शोध साहित्य SHODH SAHITYA
INTERNATIONAL PEER REVIEWED E-RESEARCH JOURNAL
(समसामयिक विषयों पर केंद्रित बहुविषयक मासिक ई-शोध पत्रिका)
E-ISSN 2584-2447
Impact Factor – SJIF 2024 = 3.621

Vol -3
Issue -2
February
2025

21वीं सदी की कहानियों में लोक चित्रण

डॉ.आशीष कुमार तिवारी
सह.प्राध्यापक-हिंदी विभाग
श्री कृष्णा विश्वविद्यालय, छतरपुर (म.प्र)

शोध सार

इक्कीसवीं सदी में मनुष्य के जीवन के तमाम अंतर्विरोध इस समय की हिंदी कहानियों का केंद्रीय विषय रहे हैं जिनमें वर्ग-जातिगत अंतर्विरोध, मध्यवर्गीय संस्कृति के अंतर्विरोध, ग्रामीण शहरी जीवन के मध्य अंतर्विरोध, शिक्षित-नौकरीपेशा जीवन के अंतर्विरोध, दो पीढ़ियों के मध्य वैचारिक अंतर्विरोध, प्रेम सहजीवन के अंतर्विरोध, धार्मिक कट्टरता आदि विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं।

संस्कृति किसी राष्ट्र,राज्य,जीवन या समाज की संपूर्ण मानसिकता का आदर्श एवं सुन्दर रूप होती है। इसमें जीवन के समस्त क्रियाकलापों का लेखा-जोखा निहित होता है। प्रत्येक देश अथवा क्षेत्र की एक लोक संस्कृति होती है। देश अथवा क्षेत्र की सीमाओं में रहकर जनजीवन इस संस्कृति का निर्माण एवं विकास करता है। भारतीय जीवन का यथार्थ स्वरूप गाँव में है। भारतीय जीवन और सभ्यता का मूल स्रोत कृषि है। 21वीं सदी की विभिन्न कहानीकारों ने प्रकृति एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने की बात अपनी कहानियों में किसी न किसी रूप में अवश्य ही व्यक्त की है।

'लोक' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है। यह शब्द संस्कृत की 'लोक दर्शन' धातु में धन प्रत्यय जोड़ने से निर्मित हुआ। इस धातु का अर्थ है- देखना। इसका लट्लकार में अन्य पुरुष एक वचन रूप 'लोकते होता है। अतः 'लोक शब्द का मूल अर्थ हुआ देखने वाला। इसलिए लोक शब्द का अभिप्राय उस संपूर्ण जनसमुदाय से है जो किसी देश में निवास करता है। यह 'लोक' शब्द अंग्रेज़ी के फोक' शब्द का समानार्थी है। एक ओर यह शब्द जनसामान्य के अर्थ का द्योतक है तो दूसरी ओर अपने में विश्व अथवा समाज को समेट लेता है। आधुनिक विद्वानों द्वारा लोक शब्द कई अर्थो में प्रयुक्त किया गया है। कुछ विद्वानों ने लोक को 'जन' का पर्याय माना है। तो कुछ ने 'ग्राम' या नगर की सीमित परिधि के अंतर्गत

E-ISSN 2584-2447
Impact Factor – SJIF 2024 = 3.621
Vol -3 Issue -2 February 2025

अभिहित किया है कुछ विद्वान अशिक्षित और अल्पसंख्यक व्यक्तियों के वर्ग को लोक के अंतर्गत सन्निहित करते हैं।

बीज शब्द

लोकवार्ता, अभिजात्य, परिष्कृत, अकृतिम, स्वाभाविक।

भूमिका

21वीं सदी में लोक की दुनिया और दुनिया में लोक उसी प्रकार व्याप्त है जैसे पहले था। अंतर यही है कि उसे देखने समझने का चाव कम हो गया है। उसका महत्व आंकने की कोशिश कम हो गई है। किंतु जब हम कोई बहुमूल्य संपत्ति खो देते हैं तो उसका मूल्य समझ में आने लगता है। इस दृष्टि से हम आज लोक की संपदा के संरक्षण, संकलन और मूल्यांकन के बारे में सोचने को बाध्य हुए हैं, क्योंकि परिस्थितियों ने समझा दिया है कि लोकहित के लिए यह कितना अपरिहार्य है।

लोक-संस्कृति में बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव का जो प्रश्न है उस पर मंथन आवश्यक है। आज बाजार और उपभोक्ता संस्कृति जीवन के हर क्षेत्र में हावी होती जा रही है। यहां तक कि मानवीय रिश्तों, पारिवारिक संबंधों पर भी यह कुंडली मारकर बैठ गई है। आज संबंधों में आत्मीयता का स्थान लाभ-हानि के गणित ने ले लिया है। लोक-संस्कृति जो कल्याणकारी उद्देश्य रखती है, वह सबके लिए हवा, पानी, प्रकाश की तरह सुलभ रही है। उसे अब क्रय-विक्रय से जोड़ दिया गया है। लोक की उदारता से सहज प्राप्त होने वाली संपदा का व्यापार होने लगा है। लोक-कलाएं, लोक साहित्य का प्रिंट मीडिया से लेकर फिल्मी परदे तक दोहन ही नहीं, उसका प्रदूषण भी हो रहा है। आकर्षक चमक-दमक लाने के लिए मनमाने ढंग से प्रयोग हो रहे हैं। उसकी मूल आत्मा या मूल भाव लुप्त हो रहे हैं। यह भी सत्य है कि लोगों की रुचि जगी है और वे लोक की शक्ति को जानने-समझने का प्रयास करने लगे हैं।

शोध विस्तार

शब्दकोश में लोक शब्द के अर्थ है जन या लोग, समाज, संसार आदि। हिंदी के प्रसिद्ध लोकवार्ताविद डॉ.सत्येन्द्र के अनुसार -"लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य

संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है ओर जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[1] इस बात से वस्तुतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोक' की वह नृतात्विक व्याख्या है जो उसके लिए विशिष्ट सामाजिक वर्ग पर जोर देती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली वह समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोषियों का ज्ञान नहीं है। नगर में परिष्कृत रुचि- संपन्न तथा सुसंस्कृत-समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा वे अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने वाली वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।"[2] त्रिलोचन पाण्डेय ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किया है कि आरंभ में जब लोक शब्द का अर्थ असाक्षर, असंस्कृत जैसे लोगों से किया तो उसका मूल आधार सामाजिक था। फिर जब उसे आदिम समाजों के साथ जोड़ा गया तो उसका मूल आधार जातीय था। फिर जब उसे कृषक समाजों अथवा ग्राम समाजों के साथ संयुक्त किया गया तो उसका मूल आधार भौगोलिक था।

लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लोक शब्द की व्याख्या अपने ढंग से करते हुए कहा है कि- "लोक का तात्पर्य सर्वसाधारण जनता से है। दीनहीन, शोषित, पतित, पीड़ित लोग और जंगल जातियाँ, कोल, भील, संभाल, गौड़, नाग, शक, हुण, इत्यादि सभी लोक समुदाय मिलकर लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।"[3]

लोक की ओर परिभाषित करते हुए डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है- "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत,भविष्य,वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक प्रायोगिक ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है।"[4] ये तमाम परिभाषाएँ यही उजागर करती हैं कि सर्व साधारण जनता ही लोक है। यह एक ऐसा समुदाय विशेष है जो केवल गाँवों में नहीं बल्कि नगरों में भी निवास करता है, जो रूढीगत परंपराओं, अंधविश्वासों, आदिम प्रवृत्तियों से युक्त, शिक्षा से हीन तथा जो नगर के परिष्कृत रुचि संपन्न व सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल जीवन जीने का आदी होता है। शिक्षित होने पर भी जब वह अपनी प्राचीन संस्कृति, मान्यताओं एवं परंपराओं को नहीं तोड़ता 'लोक' के अंतर्गत ही आ जाता है।

लोक संस्कृति हर देश के समाज की अपनी संपत्ति और विभूति होती है। यह किसी एक व्यक्ति की निर्मिति न होकर सामूहिक आविष्कार होता है। इसका निर्माण नियोजनबद्ध रूप से नहीं किया जाता है वह स्वाभाविक, सहज ढंग से होता है। इसमें कृत्रिमता नहीं आत्मीयता होती है। लोक संस्कृति में लोक मंगल के तत्व निहित हैं। अतः लोक संस्कृति का अपना विशेष महत्व है।

डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार-"लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्सभूमि जनता थी और जो बौद्धिक विकास के धरातल पर उपस्थित थी।"[5] लोक संस्कृति को एक ऐसी सामान्य जीवन शैली के रूप में देखा जा सकता है जो किसी क्षेत्र के अनेकों गाँवों, कस्बों तथा नगरों के कुछ अथवा सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। वे प्राकृतिक है कृत्रिमता का सवार उनपर अभी तक उतना नहीं हुआ। ऐसे प्रकृतस्थ लोगों के द्वारा जो लोक है और लोकहित है उनका नाश कभी भी नहीं होगा। हमारी स्मृतियाँ आज भी उसके लिए तरसती हैं। जो परिकथायें, लोक कथाएँ एवं मिथक हैं वे आज भी हमारी संवेदनाओं को संशुद्ध एवं संपुष्ट करते है। समकालीन कहानीकार इनके प्रति विशेष सतर्कता बरते आते हैं। यह इस अतिभौतिक हिंसात्मक भोगलिप्सा एवं स्वार्थपरायण मनुष्यों को अनुभूति जगत की ओर ले आने में समर्थ है। इसलिए नवराष्ट्रीय अवधारणा में लोक की जगह अन्य आवाजों से ज्यादा विचारणीय दिखाई देती है। यह है भारतीय धरोहर, हमारी विरासत और बपौती है।

भारत कृषि प्रधान देश है । भारतीय जीवन का यथार्थ स्वरूप गाँवों में है। भारतीय जीवन तथा सभ्यता का मूल स्रोत कृषि है। गाँव एवं किसान का पूरा जीवन जमीन, जल और से जुडा हुआ है। खेत तो किसान की आत्मा होता है। इसके बिना वह जी नहीं सकता । उनकी अपनी एक संस्कृति एवं अस्मिता है। नष्ट होती हुई इस संस्कृति को पुनः साहित्य के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास आज के कहानीकार कर रहे हैं। सांस्कृतिक ग्रामीण कृषक समाज एवं राष्ट्र की आत्मा है। इस सच्चाई को लेकर इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में गाँव एवं कृषि संस्कृति को व्यापक धरातल पर वाणी मिली है। किसान तमाम ताड़नाएँ और आपत्ति सहकर भी कृषि संस्कृति को बनाए रखने में प्रतिबद्ध होता है। इसी

E-ISSN 2584-2447
Impact Factor – SJIF 2024 = 3.621
Vol -3
Issue -2
February
2025

प्यार एवं प्रतिबद्धता की संस्कृति को देवेन्द्र सिंह की 'कंपनी बहादुर', महेश कटारे की 'गोद में गाँव' आदि में देखा जा सकता है।

दरअसल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते फंदे में घिरा किसान आज इतना विवश हो चुका है कि अपनी आँखों के सामने अपने बंजर पड़े खेतों को वह सिर्फ निहार भर सकता है, पर उन्हें लूटने से नहीं बचा सकता, न ही उन्हें फिर से उपजाऊ बनाने की पहल ही कर सकता है। पर ऐसी स्थिति में भी जाब 'गोद में गाँव की कहानी का सरपंच सालिगराम से कंपनी के रेस्ट हॉउस के लिए खेत देने की बात करता है तो सालिगराम का धरती प्रेम उसे ऐसा नहीं करने देता। वह कहता है कि-"पर नई भैया। हम ना बेचेंगे। धरती है तो आस भी बची है।"[6] सालिगराम सोचता है कि अकाल, बाँझ होती धरती, कंपनी, दलाल आदि से उसकी ज़िन्दगी घिर चुकी है। फिर भी वह हिम्मत नहीं हारता। अपने बेटे जे सिंह को समझाते हुए कहते हैं- "जै सिह मोप तो जे लगई रई कि जौन दिन हमारे सोत सूख जाएँगे तीन दिन जे कंपनी हमें मरते बिलबिताते छोड़ जाएगी ।चूसे भये आम की नाईं।"[7] उसकी इस बात का समर्थन सालिगराम की बीवी रामसिरी भी करती है क्योंकि वह जान गई है कि जमीन तो अब नई बिकेगी।

देवेन्द्र सिंह की कहानी 'कंपनी बहादूर' में भी किसान धनराज को खेतों से बड़ा लगाव है और उसे वे धरती माता कहते हैं। उनका कहना है कि-" 'देखो बेटा, खेत चाहे चास लगा हो कि खाली, उसको साँझ-विहान नहीं तो कम से कम दिन में एक बार जरूर देखना चाहिए। खेत को रोज़ देखोगों तो पता चलेगा कि उसको किस चीज़ की जरूरत है। खेत सही सलामत है कि नहीं। मान लो कोई अरिया दबा के आर ही छाँट ले तो तुमको कैसे पता चलेगा?"[8] आज भी भारतीय किसान के लिए अपनी जमीन माँ जैसी ही है। इसे अपनी मिट्टी से जुड़कर काम करते समय इतना घुलमिल जाता है कि सब कुछ पाने का आनंद मिल जाता है। इसलिए लाभ न मिलने पर भी किसान अपनी ज़मीन के उपेक्षा करने के लिए तैयार नहीं है। दोनों के साथ जो आत्मीय संबंध है उसे तोडना बहुत मुश्किल है। जमीन से रिश्ता' नामक कहानी में तो एक किसान और ज़मीन के साथ का संबंध किस प्रकार का है इसका सुन्दर वर्णन इन वाक्यों में दिया गया है-"गाँव की मिट्टी से जुडी उसकी नाल और दूसरी माय से जुडी एक अदृश्य नाल इस-प्रकार किसान के लिए धरती में अपना जुड़ाव ज़मीन और माय के

साथ है। दोनों जो प्रेम ममता हमें दी जाती है वह अवर्णनीय है । इसलिए अपनी खेती या जमीन पर होने वाले हरेक बदलाव उनके संबंध में वेदनापूर्ण है। वह इतना प्यार करता है कि किसी भी धन-दौलत के लिए उसे छोड़ना नहीं चाहता।"[9]

किसानी जीवन शैली परंपरागत होती है। यह उनकी संस्कृति की पहचान है। ये अपनी ही निजी दुनिया में यांत्रिकता एवं कृत्रिमता से कोसों दूर होते हैं। परिणामस्वरूप उसके जीवन में सरलता एवं स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। सबेरे से रात तक काम करके थके ये लोग खेती में समर्पित पूरा जीवन जीते हैं। इतना ही नहीं विपन्नता के बावजूद इन लोगो में संतोष है। अपनी झोंपड़ियों में परिवार एवं गाय, बैलों के साथ सरल जीवन बिताने वाले ये निरीह जनता के मित्र हैं हल, अनाज एवं खेत । शैलेश मटियानी की कहानी 'पाप-मुक्ति' में एक छोटा सा किसान परिवार का चित्रण यों व्यक्त हुआ है कि-"छोटा सा घर है। दो गोठ नीचे हैं। एक में भैंस रहती है, दूसरे में बेल । ऊपर एक कमरा रसोई का है, एक बाहर का। और दिनों आनंदी, कुरी और किसनिया बहार के बड़े कमरे में सोते थे, ललिता अन्दर रसोई वाले कमरे में सोती थी।"[10] वैसे ही 'कहीं दूर जब दिन ढल जाए कहानी में बसोली गाँव में स्थित बुआ के घर का वर्णन इस प्रकार लेखक ने किया है -"जिस कमरे में बैठा था, वह 'चाख कहलाता था। उसी के भीतर का एक बड़ा कमरा बाकी तमाम कामों के लिए मुकर्रर था। दक्षिणी कोना कुत्ते का था, जो दरअसल एक भरा-पूरा स्टोर था। बाँस, निगाल और गेहूँ के डंठलों से बने अनेक छोटे बड़े टोकरे थे, जिनमें अनाज रखा गया था और इन्हीं के बीच कहीं कुत्ते ने अपने लिए जगह बना ली थी। इस प्रकार निम्न स्तर पर जीवन बिताने वाली ग्रामीण जनता प्रात: काल से ही अपना दिनचर्या शुरू करती है। हल-बेल को लेकर मर्द खेतीबारी में डूबते समय घर के अन्य सदस्य गाय-भैंस के लिए घास काटकर, जंगल में उसे चराने की वृत्ति में तल्लीन होते हैं। घर के छोटे-छोटे बच्चे भी इससे अछूत नहीं हैं। ग्रांचल में वास करने वाले सरल हृदय ग्राम्य जन किस प्रकार अपने दैनिक कार्यों का प्रारंभ करते हैं इसका आदर्श चित्रण शैलेश मटियानी की कहानी कुसुमी में उपलब्ध है। कुसुमी को केशरसिंह के साथ ही खेतों पर डलिया फोड़ने, खाद फैलाने जाना है। दोपहर की रसोई के लिए चावल कूटने को कुसुमी उठी थी। तब दिशा भी नहीं खुली थी। मशाल जलाकर धान कूटे थे उसने। धान कूटने के बाद गाय-भैंस का दूध लगाकर और चाय पीकर गोठों की सफाई करते करते कुसुमी

E-ISSN 2584-2447
Impact Factor – SJIF 2024 = 3.621
Vol -3
Issue -2
February
2025

के माथे पर भोर की धूप उतर आई। प्रात:काल की तैयारी के बाद कुसुमी और केशरसिंह दोनों अपने काम की तैयारी में हैं- "केशरसिंह भी, खेत जोतने को जाने की तैयारी में, अपने हल-जुए को ठीक कर रहा था। घर के चबूतरे पर बैठा था। कुसुमी गोठ की खाद एक डलिया में भर चुकी थी। डलिया काफी भारी हो गई थी और कुसुमी उसे अपने सिर तक उठा नहीं पा रही थी।"[11] 'चिट्ठी के चार अक्षर' नामक कहानी में दुर्गा और उसके पिता के जीवन का चित्रण इस प्रकार है कि-"खेती थोड़ी सी थी। पीठ सहारे कोई भाई नहीं था। बूढ़े पिता को अपने पेशे के लिए गाँव-गाँव डोलना पड़ता था। इसलिए दुर्गा को ही वन जाना पड़ता था। नहीं तो उसके उम्र की सयानी छोरियाँ टोलियों में घास काटने वन भले ही जाना पड़े।"[12]

वायु जल और वायु के बिना जीवन का अस्तित्व नहीं है। जब तक प्रकृति सतुलन में रहती है तब तक वायु और जल शुद्ध और स्वच्छ रहते हैं। औद्योगीकरण के तहत कल-कारखानों के जहरीले रासायासनिक पदार्थों एवं शहरीकरण से उत्पन्न प्रदूषण की समस्या ने आज इतना गंभीर रूप धारण कर लिया है कि सारी मानव जाति बुरी तरह से प्रदूषण से ग्रस्त है। इससे केवल मानवजाति ही नहीं तो मनुष्येतर प्राणी भी बेहाल हैं। इससे आज गाँव भी अछूत नहीं है। पहले गाँव का वातावरण बहुत ही सुन्दर था। वह सुगंध से भरा हुआ था लेकिन आज वहाँ बदबू के कारण चला भी नहीं जा सकता। स्वयंप्रकाश की 'बलि' नामक कहानी में, नायिका के बचपन में तो गाँव घनी हरियाली से संपन्न था। लेकिन जल, वायु, जंगल प्रदूषित होने लगा है। नायिका के शहर से वापस आते वक्त उसे गाँव की बदबूदार अवस्था देखकर बहुत ही दुःख होता है जानवरों को भी अधिक ढंग से मारने लगे कुछ ही देर में वही जाने-पहचाने दृश्य थे--"वही कोयला, मैना, केले-कटहल, आम-महुआ. गाँव-जवार, खेत-मैदान, पेड़-गाछ, तालाब, झरने, नदी पहाड़... वहीं ठंडी हवा.... वैसे ही मादक सुगंध...अचानक उसे लगा, वह अपने आपको बहला रही है... सुगंध नहीं दुर्गन्ध है... कहीं कुछ सड़ रहा है...हवा में कुछ सड़ रहा है... जैसे कहीं किसी जानवर की लाश सड रही हो...।"[13] उसे लगा मक्खियाँ बहुत है। डिब्बे में भी। वे वाकई थी। उसे लगा उमस बहुत है। उसे लगा, उसके प्यारे देश ने उसके स्वागत में बांहें नहीं फैलाई। उसकी मातृभूमि ने उसे उछाह में आकर अंक में नहीं फैलाई। अब वह एक अजनबी की तरह, एक भगोड़े की तरह, एक द्रोही की तरह अपने ही घर में प्रवेश करेगी। 'स्वयंप्रकाश की कहानी हमारे समय के सामयिक संकटों की खुली

अभिव्यक्ति करती है। इसमें वर्तमान समाज का प्रभावी चित्रण मिलता है। प्रकृति हमारी माँ है तो संस्कृति हमारी धात्री है। प्रकृति एवं संस्कृति को सुरक्षित रखना मानव का दायित्व है। साहित्य और समाज में गहरा संबंध है। प्रत्येक रचना कतिपय सामाजिक मूल्यों को आत्मसात् किए रहती है। वास्तव में साहित्यकार की सामाजिक चिंता उसके साहित्य में मुखरित है, जो उसे सामाजिक दायित्व बोध के प्रति जागरूकता प्रदान करती है। इसी से वह सामाजिक रूढ़ियों, आत्मविश्वासों और कृत्रिम नैतिकता का विरोध करते हुए समाज हित में नई जीवन दृष्टि का प्रतिपादन करता है। इसी से उसका व्यक्तिगत मूल्य-चिन्तन भी समाज सापेक्ष होता है। इसी दृष्टि से इसमें मानव,समता और न्याय को सर्वोपरि स्थान मिला है। कहानीकारों ने सामाजिक वैषम्य और भेदभाव का विरोध किया है और सामाजिक अन्याय,अनाचार, स्वार्थपरता, अस्पृश्यता के साथ-साथ व्यक्ति-स्वातंत्रय व पारिवारिक मूल्यों को उजागर करने का सफल प्रयत्न किया है।

वस्तुतः मूल्य विवेक सम्मत् वैचारिक दृष्टिकोण हैं। मूल्यों का मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है, भले ही विभिन्न क्षेत्रों में इनका स्वरूप अलग-अलग है। मूल्यों का महत्त्व व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न रूपों में है। ये मानव समाज में एकता स्थापित करने का कार्य करते हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष स्वरुप हम यह कह सकते है कि इक्कीसवीं सदी का साहित्य लोक चेतना का साहित्य है। नव उप निवेशवादी भोग संस्कृति में जिसे हाशियेकृतों की ओर छोड़ा गया है, वे आज केंद्र में आने लगे है । उनकी अस्मिता एवं संस्कृति को स्वीकृति मिलने लगी है। नवराष्ट्रीयता का मुख्य मकसद प्रकृति केन्द्रित राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना है। हाशियेकृतों की संस्कृति में प्रकृति बोध का बोलबाला है। वे किसी न किसी प्रकार अनजाने ही अपने विश्वासों, रीति-रिवाजों एवं रहन-सहन में इस संबंध को गुंजायमान करते हैं। इसलिए लोक की धुन उनके जीवन के साथ घुलमिल गए है। यह सादगी एवं मिट्टी की महक भारत की अस्मिता है। इसकी खोज आज की कहानियों में सर्वत्र परिलक्षित है । यह आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण के प्रति प्रतिरोधात्मक साहित्यिक प्रयोग है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. सत्येंद्र/हिंदी साहित्य कोश भाग 1/पृष्ठ स.747
2. श्री राम शर्मा/लोक साहित्य सिद्दन्त और प्रयोग/पृष्ठ स.4
3. त्रिलोचन पाण्डेय/लोक साहित्य का अध्ययन/पृष्ठ स..105
4. लक्ष्मीधर बाजपेयी/भारतीय लोक संस्कृति का आधार/पृष्ठ स..112
5. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल/सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक 2010/पृष्ठ स.65
6. राहुल सांस्कृत्यायन /लोक साहित्य का बृहत इतिहास/ पृष्ठ स.4
7. डॉ.अल्पना सिंह/लोक संस्कृति एवं साहित्य का वर्तमान स्वरूप/पृष्ठ स.147
8. महेश कटारे/गोद में गाँव,प्रतिरोध की कहानिया/पृष्ठ स.244
9. देवेन्द्र सिंह/ कपनी बहादुर, प्रतिरोध की कहानिया/पृष्ठ स. 245
10. पराग मांदले/ जमींन से रिश्ता, कथादेश 2012/पृष्ठ स.109
11. शैलेश मटियानी/ पाप मुक्ति,कथादेश/पृष्ठ स.176
12. शैलेश मटियानी/ कुसुमी,कथादेश/पृष्ठ स.126
13. स्वयं प्रकाश/ बलि, कथादेश/पृष्ठ स.143